प्यारे रसूल(सल्ल०)
के
प्यारे साथी(रज़ि०)

माइल ख़ैराबादी

विषय-सूची

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

'अल्लाह के नाम से जो बड़ा ही मेहरबान और रहम करनेवाला है।'

1. हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰)

मक्का से कुछ दूरी पर एक नख़लिस्तान (हरा-भरा इलाक़ा) था। यहाँ ग़िफ़ारी ख़ानदान के कुछ लोग रहा करते थे। यह ख़ानदान ठीक उस रास्ते पर आबाद था, जिधर से होकर मक्कावाले तिजारत (व्यापार) के लिए आया-जाया करते थे। इस ख़ानदान में दो भाई थे। एक का नाम उनैस और दूसरे का नाम अबू-ज़र था। अबू-ज़र बड़े बहादुर आदमी थे, अकेले ही बहुत-से आदमियों से मुक़ाबला कर बैठते और मारकर भगा देते थे। सौदागर (व्यापारी) लोग तो उस रास्ते से निकला ही करते थे। अबू-ज़र कभी-कभी अकेले ही सौदागरों के पूरे क़ाफ़िले को लूट लिया करते थे।

अबू-ज़र की यह हालत ज़्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ ही दिनों में उन्हें लूट-मार से नफ़रत हो गई। डाका डालने से तौबा कर ली। दिल में अल्लाह का डर पैदा हो गया। यह तो सभी जानते हैं कि उस वक़्त अरब के लोग बुतों की पूजा करते थे। मगर अबू-ज़र बुतों को बिलकुल बेकार समझते थे। वे कहा करते थे कि जब ये पत्थर के बुत न तो बोल सकते हैं, न देख सकते हैं, न सुन सकते हैं और न अपनी जगह से हिल सकते हैं तो इनकी पूजा करने से क्या फ़ायदा? ये दूसरों की मदद कैसे कर सकते हैं? पूजा और इबादत तो बस ख़ुदा की करनी चाहिए,

जिसने सबकुछ पैदा किया और जो सबको रोज़ी देनेवाला है और जिसके हुक्म पर दुनिया की हर चीज़ काम कर रही है। तो बस अबू-ज़र अल्लाह के सिवा किसी और को इबादत के लायक़ नहीं समझते थे और अल्लाह ही की इबादत करते थे, मगर किस तरह? यह बात उन्हें ख़ुद नहीं मालूम थी, और मालूम होती भी तो कैसे? अल्लाह ने उन्हें नबी तो बनाया नहीं था जो अपने फ़रिश्ते ज़िबरील (अलैहिस्सलाम) के ज़रिए उन्हें बताता, न दूसरे नबियों से उन्हें दीन की ठीक-ठीक बातें मालूम हो सकी थीं। सैकड़ों बरस से अरब में अल्लाह ने कोई नबी नहीं भेजा था। किसी को दीन की ख़बर ही नहीं थी, तो अबू-ज़र बेचारे क्या करते? बस जैसे जी चाहता अल्लाह को याद कर लेते। जिस तरफ़ जी चाहता, मुँह करके खड़े हो जाते और जिस तरह समझ में आता इबादत कर लेते। मगर इससे अबू-ज़र को इत्मीनान नहीं था। वे अल्लाह से दुआ करते थे कि इबादत का सही तरीक़ा मालूम हो जाए।

अब अल्लाह की मेहरबानी देखिए। अल्लाह तो बड़ा मेहरबान है, वह अपने बन्दों की ज़रूर सुनता है। एक दिन एक आदमी ने अबू-ज़र से कहा, "अबू-ज़र! अल्लाह ने मक्का में एक नबी भेजा है, वह अल्लाह की इबादत का सही तरीक़ा बताता है और तुम्हारी तरह ला-इला-ह इल्लल्लाह (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं) कहता है।"

यह सुनना था कि अबू-ज़र ने अपने भाई उनैस से कहा, "भाई! ज़रा उसके पास जाओ और पता करो वह नबी क्या कहता है?"

उनैस मक्का गए, वहाँ वे एक दिन रहे। लौटकर आए तो बताया, "अल्लाह की कसम! वह इनसान (मुहम्मद सल्ल॰) अच्छी बातें सिखाता है और बुरी बातों से मना करता है।"

अबू-ज़र ने पूछा, "उसने अल्लाह की इबादत का तरीक़ा क्या बताया?"

अब उनैस चुप... अबू-ज़र ने फिर पूछा, "अच्छा अल्लाह ने उस (मुहम्मद सल्ल॰) पर फ़रिश्ते के ज़रिए जो क़िताब (क़ुरआन) उतारी है, उसमें से कुछ सुनाओ।"

उनैस अब भी चुप।

उनैस ने मक्का जाकर अच्छी तरह कुछ पूछा न था, इसलिए वे ज़्यादा कुछ न बता सके। अबू-ज़र को तो दिल से लगी थी, भाई की बातों से इत्मीनान न हुआ तो ख़ुद चल पड़े।

मक्का पहुँचे, मगर मुश्किल यह थी कि मुहम्मद (सल्ल॰) को पहचानते नहीं थे, और यह भी सुना था कि मक्कावाले मुहम्मद (सल्ल॰) से किसी परदेसी को मिलने नहीं देते। अब क्या हो? बेचारे काबा में जा ठहरे। जो खाना था, एक-दो दिन में ख़त्म हो गया। अब सिर्फ ज़म-ज़म का पानी पीकर रहने लगे। न किसी ने उन्हें पूछा और न ही उन्होंने किसी से कुछ कहा। इत्तिफ़ाक़ से एक दिन हज़रत अली (रज़ि॰) उनके पास से होकर निकले, उन्हें देखा तो पूछा, "तुम मुसाफ़िर मालूम होते हो?"

जवाब दिया, "जी हाँ!"

हज़रत अली (रज़ि॰) अबू-ज़र (रज़ि॰) को मुसाफ़िर समझकर अपने घर ले गए। खाना खिलाया और आराम से रातभर घर पर रखा। दूसरे दिन विदा किया। अबू-ज़र फिर काबा में आ बैठे। इत्तिफ़ाक़ की बात, हज़रत अली (रज़ि॰) फिर उसी तरफ़ से गुज़रे। पूछा, "तुमको अभी कहीं ठिकाना नहीं मिला?"

जवाब दिया, "नहीं!"

हज़रत अली (रज़ि॰) फिर उनको अपने घर ले गए। रास्ते में पूछा, "भाई! यहाँ कैसे आना हुआ?"

अबू-ज़र (रज़ि॰) ने कहा, "अगर किसी को बताओगे नहीं तो मैं कहूँ।"

हज़रत अली (रज़ि॰) ने कहा, "इत्मीनान रखो और शौक़ से दिल की बात बताओ, मैं किसी से नहीं कहूँगा।"

अब अबू-ज़र (रज़ि॰) ने दिल की बात कही, बोले, "यहाँ कोई आदमी ख़ुद को नबी कहता है, मैं उससे मिलने आया हूँ।"

हज़रत अली (रज़ि॰) खुश होकर बोले, "भाई अबू-ज़र! तुम नेकी का रास्ता पा गए। अच्छा! मेरे पीछे-पीछे चले आओ। अब रास्ते में बात न करना। कोई तुम्हारी बात न जाने। जिस मकान में मैं जाऊँ तुम भी मेरे साथ चले आना।"

अबू-ज़र (रज़ि॰) ने कहा, "बहुत अच्छा।" और पीछे-पीछे चलते रहे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) के पास पहुँच गए। जाते ही पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल! बताइये आप अपने दीन के बारे में क्या बताते हैं?"

प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने इस्लाम की सारी बातें समझाईं। अल्लाह की इबादत का सही तरीक़ा बताया और क़ुरआन सुनाया। अबू-ज़र देर तक नबी (सल्ल॰) से बातें करते रहे। जब अच्छी तरह समझ में आ गया तो मुसलमान हो गए, कलिमा पढ़ लिया *"ला-इला-ह इल्लल्लाह, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह* (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं और मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं।)"

अबू-ज़र (रज़ि॰) मुसलमान हो गए तो प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने उनसे कहा, "अच्छा अब तुम अपने घर जाओ।"

हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰) को अब चैन कहाँ था, बहादुर आदमी तो थे ही, पहले से ही किसी से दबते नहीं थे, अब तो अल्लाह के सिवा किसी का डर भी नहीं रहा। बोले, "अल्लाह की क़सम! मैं अपने इस्लाम को छुपा नहीं सकता। अभी लोगों के

सामने पुकार-पुकारकर कहूँगा।" यह कहकर काबा में गए। मक्का के क़ुरैश काबा में जमा थे, उनको पुकारकर कहा, "क़ुरैशियो! मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं, और मुहम्मद उसके बन्दे और रसूल हैं।"

अबू-ज़र (रज़ि॰) की ज़बान से यह सुनना था कि क़ुरैश आपे से बाहर हो गए और सब हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰) पर टूट पड़े। अबू-ज़र (रज़ि॰) थे तो अकेले लेकिन बहादुर भी थे, चाहते तो उन लोगों को पीट देते। मगर सोचा कि न जाने प्यारे रसूल (सल्ल॰) इस वक़्त मुक़ाबले को पसन्द करें या न करें? बस यही सोचकर चुप रहे। फिर तो क़ुरैशियों ने उनको जी-भर के पीटा, मारते-मारते बेदम कर दिया।

प्यारे रसूल (सल्ल॰) के चचा हज़रत अब्बास (रज़ि॰) उस वक़्त तक मुसलमान न हुए थे, मगर दिल से इस्लाम के तरफ़दार थे। अबू-ज़र (रज़ि॰) को बेदर्दी के साथ पिटते देखा तो दौड़े, क़ुरैश को हटाया और डराया कि "तुम लोग एक ग़िफ़ारी ख़ानदान के नौजवान की जान लेना चाहते हो। सोचो तो, जब तुम व्यापार के लिए जाते हो तो ग़िफ़ारी ख़ानदान के रास्ते से निकलते हो, क्या तुम यह समझते हो कि ग़िफ़ारी लोग अबू-ज़र का बदला तुमसे न लेंगे? सब तुमको लूट लेंगे और तुम्हारा रास्ता बन्द कर देंगे।"

हज़रत अब्बास (रज़ि॰) ने इस तरह डराया तो क़ुरैश हट गए, मगर अबू-ज़र (रज़ि॰) फिर भी *'ला-इला-ह इल्लल्लाह, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह'* कहते रहे। क़ुरैश को फिर ताव आया, फिर झपटे, मगर हज़रत अब्बास (रज़ि॰) ने फिर रोक दिया और मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया।

उसके बाद हज़रत अबू-ज़र (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) के कहने पर अपने घर चले गए और सबको दीन की बातें समझाने

लगे। ग़िफ़ारी ख़ानदान के लोग बड़े समझदार थे। धीरे-धीरे सब मुसलमान हो गए। फिर प्यारे रसूल (सल्ल॰) मक्का से मदीना हिजरत फ़रमा गए तो हज़रत अबू-ज़र (रज़ि॰) भी मदीना जा पहुँचे और प्यारे रसूल (सल्ल॰) के प्यारे साथियों में शामिल हो गए।

एक बार प्यारे रसूल (सल्ल॰) इस्लाम-दुश्मनों से लड़ने के लिए निकले। अबू-ज़र (रज़ि॰) भी साथ थे, न जाने क्या बात हुई अबू-ज़र (रज़ि॰) का ऊँट सुस्त पड़ गया। अबू-ज़र उसे झिड़कते रहे और हँकाने की कोशिश करते रहे। मगर ऊँट भी तो ऊँट ही है, बड़ा ज़िद्दी होता है, किसी तरह न चला। अब अबू-ज़र (रज़ि॰) ने यह किया कि अपना सब सामान ऊँट से उतारकर अपनी पीठ पर लाद लिया। अबू-ज़र (रज़ि॰) बड़े ताकतवर थे। अब वे लदे-फँदे इस्लामी लश्कर के पीछे-पीछे पैदल ही चल दिए। मुसलमान यह समझे कि अबू-ज़र (रज़ि॰) लौट गए और उन्होंने प्यारे रसूल (सल्ल॰) से कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! अबू-ज़र लौट गए।" आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "ग़म न करो, उसकी नीयत अच्छी है, ख़ुदा जल्द तुमसे मिला देगा।"

अब सुनिए! प्यारे रसूल (सल्ल॰) कुछ दूर चलकर ठहर गए, पड़ाव डाल दिया। बहुत देर के बाद लोगों ने देखा कि कोई पीछे से आ रहा है। प्यारे रसूल (सल्ल॰) से आकर कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! उस रास्ते पर कोई आ रहा है।"

प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "अल्लाह अबू-ज़र पर रहम करे, वे अकेले चलते हैं, वे जब मरेंगे तो अकेले होंगे और क़ियामत के दिन भी अकेले उठेंगे।"

प्यारे रसूल (सल्ल॰) की कोई बात कभी ग़लत न हुई, भला ग़लत कैसे होती? अल्लाह के रसूल थे। आप ग़लत बात कैसे कहते। देखिए यह बात किस तरह ठीक निकली।

प्यारे रसूल (सल्ल॰) जब अल्लाह को प्यारे हो गए तो

अबू-ज़र (रज़ि॰) मदीना से निकलकर “ज़िब्दा” नामी एक सुनसान जगह पर रहने लगे। वहाँ बीमार हुए, दवा-इलाज वहाँ कौन करता? बीवी रोने लगीं। पूछा, “क्यों रोती हो?” उस बेचारी ने कहा, “आप इस सुनसान जगह पर मरनेवाले हैं, यहाँ मेरे और आपके इन चीथड़ों के सिवा और कुछ नहीं है, आपको कफ़न कहाँ से मिलेगा?”

बीवी की यह बात सुनी तो हज़रत अबू-ज़र (रज़ि॰) बोले, “रोना बन्द करो। मैं तुम्हें प्यारे रसूल (सल्ल॰) की एक बात बताता हूँ। मैंने अपने दोस्त मुहम्मद (सल्ल॰) से सुना है कि तुममें से एक शख़्स सुनसान जगह में मरेगा और उसकी मौत के वक़्त वहाँ मुसलमानों की एक जमाअत पहुँच जाएगी। जिन लोगों के बीच मेरे दोस्त मुहम्मद (सल्ल॰) ने यह बात कही थी उनमें से सब बस्ती में मर चुके हैं। अब अकेला मैं ही रह गया हूँ, इसलिए सचमुच वह मैं ही हूँ। और मैं क़सम खाकर कहता हूँ कि न मैंने तुमसे झूठ कहा है और न कहनेवाले (मुहम्मद सल्ल॰) ने। तुम रास्ते पर जाकर देखो, मदद के लिए लोग ज़रूर आ रहे होंगे।”

यह सुनकर बीवी ने कहा, “हाजी लोग भी तो जा चुके और रास्ता चलनेवाले मुसाफ़िर भी जा चुके।” अबू-ज़र (रज़ि॰) ने फिर कहा, “देखो तो!”

शौहर के कहने पर बीवी उठीं, दौड़कर एक टीले पर चढ़ गईं। इधर-उधर देखा। फिर शौहर के पास आईं, उनकी देखभाल की, फिर दूसरे टीले पर पहुँचीं और फिर इधर-उधर नज़र दौड़ाई। वे बार-बार आकर शौहर को देखतीं और दौड़-दौड़कर लोगों का रास्ता तकतीं। एक बार जाकर देखा तो कुछ सवार आते दिखाई दिए। इशारे से उनको बुलाया। वे लोग जल्दी से आए और पूछा- “ये बीमार बुज़ुर्ग कौन हैं?” बीवी ने कहा, “ये अबू-ज़र हैं, प्यारे रसूल (सल्ल॰) के मशहूर सहाबी।”

अबू-ज़र (रज़ि॰) का नाम सुना तो वे लोग मुहब्बत और अदब से उनके पास गए। प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने जो कुछ हज़रत अबू-ज़र (रज़ि॰) से फ़रमाया था, वह सब उन्होंने उन लोगों को सुनाया और फिर नसीहतें कीं। उसके बाद उसी जगह इन्तिक़ाल फ़रमाया। उन लोगों ने हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰) का कफ़न-दफ़न किया।

अल्लाह की रहमत हो प्यारे रसूल (सल्ल॰) के प्यारे साथी हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰) पर।

2. हज़रत ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰)

प्यारे रसूल (सल्ल॰) के प्यारे साथियों में दो ख़ालिद बहुत मशहूर हुए। एक ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि॰) (वलीद के बेटे ख़ालिद) और दूसरे ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) (सईद के बेटे ख़ालिद)। सईद के बेटे ख़ालिद का हाल नीचे लिखा जा रहा है।

ख़ालिद-बिन-सईद मक्का के एक बड़े घराने में पैदा हुए। उस वक़्त अरब में पढ़ने-लिखने का रिवाज बहुत कम था। लेकिन ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) ने अपनी मेहनत और शौक़ के बल पर अच्छा-ख़ासा पढ़ लिया था। बड़े हुए तो एक दिन ख़्वाब में देखा कि एक गढ़ा है, गढ़े में आग भरी है, आग जल रही है, लपटें उठ रही हैं और ये उसी के किनारे खड़े हैं और इनके बाप इनको उस आग में धकेल रहे हैं। लेकिन प्यारे रसूल (सल्ल॰) इनका गला पकड़े रोक रहे हैं और गढ़े में गिरने नहीं देते।

यह ख़्वाब देखा तो घबराकर जाग उठे। बोले, "अल्लाह की क़सम! यह ख़्वाब बिलकुल सच्चा है।" ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) समझ गए कि यह आग जहन्नम की आग है। प्यारे रसूल (सल्ल॰) का कहना मानकर ही हम इस आग से बच सकते हैं। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) से उनकी दोस्ती थी। फ़ौरन उनके पास गए। ख़्वाब का हाल सुनाया, वे भी समझ गए। बोले, "तुम्हारा ख़्वाब बिलकुल सच्चा है, वह आग सचमुच जहन्नम की आग है, तुम्हारे बाप मुसलमान नहीं होंगे। वे तुमको भी मुसलमान बनने से रोकेंगे और अपने साथ जहन्नम में ले जाने की कोशिश करेंगे। लेकिन प्यारे रसूल (सल्ल॰) तुमको जहन्नम से बचा लेंगे। अल्लाह की

क़सम! तुम एक-न-एक दिन ज़रूर मुसलमान होगे। इसलिए मेरी राय है कि तुम अभी मुसलमान हो जाओ।”

हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) के कहने से ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) के पास पहुँचे। पूछा, “आप कौन-सी बात सबको बताते हैं?”

प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, “मैं कहता हूँ कि सिर्फ़ एक अल्लाह की इबादत करो। उसी ने तुमको पैदा किया है। वही सारी ज़रूरतों को पूरा करनेवाला है। वही मालिक है, उसी का हुक्म मानो। अगर कोई अल्लाह के हुक्म के ख़िलाफ़ हुक्म दे तो न मानो। मुझको अल्लाह का रसूल जानो, बुतों की पूजा छोड़ दो, ये बेजान हैं, बहरे और गूँगे हैं। ये बुत ख़ुद नहीं समझते कि कौन इनकी पूजा कर रहा है। जो मेरा कहना मानेगा वह जहन्नम की आग से बच जाएगा।”

प्यारे रसूल (सल्ल॰) की ज़बान से यह सब सुना तो ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) ने फ़ौरन मान लिया और कलिमा पढ़ा, *‘ला-इला-ह इल्लल्लाह, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह’* (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं और मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं।) मुसलमान हो गए तो दूसरों को भी मुसलमान बनाने की कोशिश करने लगे। बाप को ख़बर हुई तो वे बहुत ग़ुस्सा हुए, उनके भाइयों को भेजा कि पकड़ लाएँ। वे ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) को पकड़ कर ले गए। बाप ने कहा, “इस्लाम छोड़ दो।”

ख़ालिद (रज़ि॰) ने कहा, “चाहे जान चली जाए मगर मुहम्मद (सल्ल॰) का दीन नहीं छोड़ सकता।”

यह सुनकर बाप बहुत झल्लाए, डाँटना और धमकाना शुरू कर दिया। ख़ालिद (रज़ि॰) ज़रा भी नहीं डरे तो मारना शुरू कर दिया और इतना मारा कि सिर पर पड़ते-पड़ते लकड़ी टुकड़े-टुकड़े

हो गई। जब मारते-मारते थक गए तो फिर कहा, "तुम देखते हो कि मुहम्मद सब लोगों से झगड़ रहा है, बुतों की बुराइयाँ करता है, बाप-दादा की रस्मों (रिवाजों) को बुरा कहता है और तुम हो कि उसकी हाँ में हाँ मिला रहे हो।"

ख़ालिद (रज़ि॰) पर बुरी तरह मार पड़ी, बहुत पीटे गए। उसके बाद बाप से यह सुना तब भी वही जवाब दिया, "अल्लाह की क़सम! मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के रसूल हैं। वे जो कुछ कहते हैं, सच कहते हैं। मैं हमेशा उनके साथ रहूँगा।"

बेटे की ज़बान से यह सुना तो बाप ने उनको क़ैद करके बन्द कर दिया और लोगों से कह दिया कि, "कोई इससे ज़रा भी न बोले।"

बेचारे ख़ालिद (रज़ि॰) ये तकलीफ़ें बराबर सहते रहे। एक दिन मौक़ा मिल गया तो घर से भाग निकले और इधर-उधर छुप गए। इसके बाद जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने मुसलमानों से कहा कि हबश के मुल्क चले जाओ तो ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) भी हबश चले गए। आख़िर में जब सारे मुसलमानों को मदीना चले जाने का हुक्म हुआ तो ये भी मदीना जा पहुँचे और प्यारे रसूल (सल्ल॰) के साथ वहीं रहने लगे।

हज़रत ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) को जैसा करते देखते वैसा ही ख़ुद भी करते। प्यारे रसूल (सल्ल॰) जो हुक्म देते उसे फ़ौरन पूरा करते और जिस तरह प्यारे रसूल (सल्ल॰) बताते उसी तरह करते। प्यारे रसूल (सल्ल॰) उनकी इस बात से बहुत ख़ुश थे। ख़ालिद (रज़ि॰) समझदार भी बहुत थे। प्यारे नबी (सल्ल॰) ने उनको बड़े-बड़े काम सौंपे और सारे काम उन्होंने बड़ी अच्छी तरह किए। बहुत-सी लड़ाइयों में इस्लाम-दुश्मनों से लड़े और उनको हराया। उनको शौक़ था कि अल्लाह की राह में जान दें। अल्लाह ने उनकी यह मुराद पूरी कर

दी। किस तरह? यह सुनने के लायक़ है।

एक जगह रूमियों से लड़ाइयाँ हो रही थीं। उसी ज़माने में ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) ने उम्मे-हकीम नामी एक मुसलमान औरत से शादी की। ये मुसलमान औरत बहुत बहादुर थीं। अब देखिए, दूसरे दिन रूमियों का सामना हुआ तो बहुत सख़्त लड़ाई हुई। ख़ालिद (रज़ि॰) को अल्लाह के रास्ते में जान निछावर करने का शौक़ तो था ही। बीवी से बोले, "मेरा दिल कहता है कि मैं इस लड़ाई में शहीद हो जाऊँगा।"

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अल्लाह 'होनेवाली बात' मोमिन के दिल में पहले से डाल देता है।

वे घर से निकले, बड़ी बहादुरी से लड़े और अल्लाह के रास्ते में शहीद हो गए। उनकी नई बीवी उम्मे-हकीम (रज़ि॰) ने जो शादी का जोड़ा पहने हुए थीं, उनकी शहादत की ख़बर पाई। वे तो बड़ी बहादुर थीं। जाहिल औरतों की तरह रोईं-चिल्लाईं नहीं। उनको अपने अल्लाह पर भरोसा था। फ़ौरन तलवार मियान से खींच ली और बड़ी बहादुरी से इस्लाम-दुश्मनों का मुक़ाबला किया। शौहर के बदले सात रूमियों को क़त्ल किया।

३. हज़रत साद-बिन-अबी-वक़्क़ास (रज़ि॰)

हज़रत साद (रज़ि॰) रिश्ते में प्यारे रसूल (सल्ल॰) के मामू थे। उम्र में बीस-बाईस साल छोटे थे, मगर निहायत समझदार, जोशीले और बहादुर आदमी थे। अभी उन्नीस साल के जवान ही थे कि मुहम्मद (सल्ल॰) को अल्लाह का दीन फैलाते देखा, इस्लाम की तालीम देते सुना। प्यारे रसूल (सल्ल॰) के बारे में वे अच्छी तरह जानते थे कि वे बहुत नेक हैं, न किसी से लड़ते हैं न किसी से झगड़ते हैं, न किसी पर बिगड़ते हैं। किसी की कोई चीज़ बिना पूछे काम में नहीं लाते, कमज़ोरों और ग़रीबों की मदद करते हैं, किसी को सताते नहीं। अगर कोई आप (सल्ल॰) के साथ शरारत करता है या आप (सल्ल॰) के साथ कोई ग़लत सुलूक करता है, तो आप माफ़ कर देते हैं। हमेशा सच बोलते हैं, कोई कितना ही लालच दे या डराए-धमकाए मगर झूठ और ग़लत बात ज़बान से नहीं निकालते। ऐसी ही अच्छी बातों की वजह से आप (सल्ल॰) सादिक़ (सच्चे) और अमीन (अमानतदार) कहे जाते।

फिर जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने यह बताना शुरू किया कि अल्लाह के सिवा कोई ऐसा नहीं जिसके आगे सिर झुकाया जाए, चाहे वह कोई बड़े-से-बड़ा देवता हो या बादशाह। अल्लाह ने सब कुछ बनाया है, वही सबका मालिक और हाकिम हो सकता है और सचमुच वही मालिक है, हमें उसी का हुक्म मानना चाहिए अल्लाह ने इनसान को दुनिया की तमाम चीज़ों से बढ़कर बनाया है और सारी चीज़ें इनसान ही के लिए बनाई गई हैं। इन चीज़ों को अल्लाह की मरज़ी के मुताबिक़ काम में लाना चाहिए।

आख़िरत में अल्लाह इनके बारे में पूछेगा। जो अल्लाह की मरज़ी के मुताबिक़ सारी चीज़ों को काम में लाएगा उससे अल्लाह ख़ुश होगा और जन्नत देगा और जो अल्लाह की मरज़ी के ख़िलाफ़ काम करेगा, वह दोज़ख़ में डाल दिया जाएगा। इनसान को किसी के आगे हाथ बाँधकर खड़ा नहीं होना चाहिए, न अल्लाह के सिवा किसी के सामने किसी बात के लिए गिड़गिड़ाना चाहिए। अल्लाह ही सारी ज़रूरतों को पूरा करनेवाला है। जो कुछ माँगना हो, अल्लाह ही से माँगना चाहिए।

तो फिर क्या हुआ?

तो फिर यह हुआ कि हज़रत साद (रज़ि०) समझ गए कि ये सारी बातें सही हैं और मुहम्मद (सल्ल०) सचमुच अल्लाह की तरफ़ से ये सारी बातें कहते हैं। बस फिर क्या था, साद (रज़ि०) झटपट अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि०) के साथ प्यारे रसूल (सल्ल०) के पास गए। कलिमा पढ़ा और इस्लाम क़बूल कर लिया। उस वक़्त तक पाँच-छह आदमियों ही ने इस्लाम क़बूल किया था। उन सबके मुसलमान होने का हाल मक्का के दूसरे लोगों को मालूम न था। मगर हज़रत साद (रज़ि०) की माँ को किसी तरह मालूम हो गया कि बेटे ने बाप-दादा का मज़हब छोड़ दिया है, बुतों की पूजा से इनकार कर दिया है और अब उसी राह पर चलेगा जो मुहम्मद (सल्ल०) बताते हैं तो वे बेटे पर बहुत ख़फ़ा हुईं, बहुत रोईं-पीटीं, चीख़ीं-चिल्लाईं, ग़ुस्से के मारे बोलना और खाना-पीना छोड़ दिया।

हज़रत साद (रज़ि०) को अपनी माँ से बहुत मुहब्बत थी। उनका यह हाल देखा तो बहुत परेशान हुए। माँ को मनाने की कोशिश की मगर उन्होंने कहा, "इस्लाम छोड़ दो और अपने बाप-दादा के दीन पर चलो तो मैं मानूँगी, वरना नहीं।"

हज़रत साद (रज़ि०) बड़ी मुश्किल में पड़ गए। एक तरफ़

अल्लाह की ख़ुशी और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का हुक्म और दूसरी तरफ़ माँ की ख़ुशी और मरज़ी। इस मौक़े पर साद (रज़ि॰) ने यह किया कि इस्लाम को तो न छोड़ा, लेकिन हर तरह माँ की ख़िदमत में लगे रहे। एक मोमिन (मुसलमान) बेटे को यही करना भी चाहिए। अगर माँ-बाप अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के ख़िलाफ़ हुक्म दें तो नहीं मानना चाहिए, लेकिन हर तरह उनकी इज़्ज़त और ख़िदमत करते रहना चाहिए।

इसी तरह हज़रत साद (रज़ि॰) रहते रहे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) से जो कुछ सुनते उसपर अमल करते और माँ की ख़िदमत भी करते और इस्लाम की बातें दूसरों को भी बताते। धीरे-धीरे और लोग भी इस्लाम क़बूल करने लगे। अब तो मक्का के नासमझ लोगों को बहुत बुरा लगा। वे मुसलमानों को परेशान करने लगे, अगर कहीं मुसलमानों को अल्लाह की इबादत करते देखते तो शरारत करते, शोर-ग़ुल मचाते, उनका मज़ाक़ उड़ाते। मुसलमान उनके डर से छुप-छुपकर अल्लाह की इबादत करते।

एक दिन हज़रत साद (रज़ि॰) एक घाटी में अल्लाह की इबादत कर रहे थे। कुछ और मुसलमान भी साथ थे। अचानक मक्का के कुछ इस्लाम-दुश्मन उधर आ निकले और शरारत करने लगे। किसी ने ढेला फेंका, किसी ने शोर-ग़ुल मचाया, किसी ने तालियाँ पीटीं और किसी ने हँसी उड़ाई। ये बेहूदा हरकतें हज़रत साद (रज़ि॰) को बहुत बुरी लगीं। हज़रत साद (रज़ि॰) तो बड़े जोशीले थे और नौजवान भी, उस वक़्त उन्हें सचमुच जोश आ गया। ऊँट की एक मोटी सी हड्डी पड़ी थी, उसे उठाकर एक शरारती को मारी तो उसका सिर फट गया, ख़ून बहने लगा।

कहते हैं कि सबसे पहले इस्लाम की तरफ़ से हज़रत साद (रज़ि॰) ही ने इस्लाम-दुश्मनों को उनकी शरारत का मज़ा चखाया। लेकिन भाई इससे हुआ यह कि इस्लाम-दुश्मन और ज़्यादा गुस्सा

हो गए। मुसलमानों को जहाँ कहीं अकेला पाते तो नाक में दम कर देते, पकड़कर मारते-पीटते और तरह-तरह की तकलीफ़ें देते। उनका रोज़गार चौपट कर दिया, लेन-देन और बातचीत बन्द कर दी। कमज़ोर मुसलमान तो बेचारे बहुत ही पिटते। साद (रज़ि॰) जैसे बहादुर आदमी भी इस्लाम-दुश्मनों के ज़ुल्म से न बचे। माँ तो उनसे नाराज़ ही थीं, फिर कौन साथ देता? बेचारे यह भी ज़ुल्म सहते रहे। जाते कहाँ? मक्का ही में रहते रहे, मगर प्यारे रसूल (सल्ल॰) का दीन फैलाते रहे। कैसे बहादुर थे हज़रत साद (अल्लाह उनसे राज़ी हो!)

जब मक्का में इस्लाम-दुश्मनों ने मुसलमानों का जीना दूभर कर दिया और अल्लाह का नाम लेना मुश्किल कर दिया तो प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने अपने प्यारे साथियों को हुक्म दिया कि मदीना चले जाएँ। तमाम मुसलमान एक-एक, दो-दो करके मक्का से निकले और इस्लाम-दुश्मनों से बचकर मदीना चल दिए। हज़रत साद (रज़ि॰) ने भी घर-बार छोड़ा, वतन से मुँह मोड़ा, सतानेवालों से नाता तोड़ा और ख़ाली हाथ अल्लाह का नाम लेकर मदीना जा पहुँचे। मदीना के बहुत-से लोगों ने पहले से इस्लाम क़बूल कर लिया था। लुटे-पिटे आनेवाले भाइयों को उन्होंने हाथों-हाथ लिया और हर तरह उनका साथ दिया। उनको सगे भाई की तरह रखा। उन्होंने प्यारे रसूल (सल्ल॰) को भी बुला लिया। जब मक्कावालों (इस्लाम-दुश्मनों) ने सुना कि मुसलमान मदीना में आराम से रहने लगे हैं और वहाँ इस्लाम बहुत ज़्यादा फैल गया है तो वे बहुत झल्लाए। लड़ाई की ठानी, मुसलमानों ने बहुत टाला, पर इस्लाम-दुश्मनों ने एक न मानी। फिर प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने यह किया कि दस-दस, बीस-बीस, पचास-पचास मुसलमानों की टोलियाँ बनाईं। उन्हें बहुत-सी बातें समझाईं और मक्का के लोगों की टोह लगाने इधर-उधर भेजा। साठ-सत्तर मुसलमानों की एक

टोली के साथ हज़रत साद (रज़ि॰) भी गए। एक जगह मक्का के ग़ैर-मुस्लिमों के एक बड़े गरोह से आमना-सामना हो गया। मुसलमानों को तो टोह (भेद) लेना थी, इसलिए लड़ाई तो न हुई। लेकिन हज़रत साद (रज़ि॰) तो बड़े जोशीले थे और नौजवान भी, उन्होंने एक तीर चला ही दिया। इसी तरह हज़रत साद (रज़ि॰) मुसलमानों के साथ इस्लाम-दुश्मनों का हाल (भेद) मालूम करने के लिए कई बार भेजे गए। यहाँ तक कि मुसलमानों और इस्लाम-दुश्मनों में बद्र के मुक़ाम पर बड़ी सख़्त लड़ाई हुई।

बद्र की लड़ाई में हज़रत साद (रज़ि॰) बड़ी बहादुरी से लड़े। सईद-बिन-आस नामी एक इस्लाम-दुश्मन बड़ी फुर्ती और बहादुरी से लड़ रहा था। हज़रत साद (रज़ि॰) बहुत अच्छे तीरन्दाज़ थे, उन्होंने उसका निशाना लगाया और ऐसा तीर मारा कि वह उसी वक़्त ढेर हो गया। प्यारे रसूल (सल्ल॰) बहुत खुश हुए और सईद-बिन-आस की तलवार जो बहुत ही उम्दा थी इनाम में हज़रत साद (रज़ि॰) को दी।

बद्र के बाद उहुद के मक़ाम पर फिर इस्लाम-दुश्मनों से लड़ाई हुई। इस लड़ाई में इस्लाम-दुश्मनों ने धोखे से भी काम लिया और पीछे से हमला बोल दिया। कुछ मुसलमानों से एक ग़लती भी हो गई थी, इसलिए थोड़ी देर दुश्मनों का बड़ा ज़ोर रहा। जिस मुसलमान को जहाँ पाया घेर लिया। इस अचानक हमले में प्यारे रसूल (सल्ल॰) के पास सिर्फ़ दो-तीन साथी ही रह गए थे। उनमें हज़रत साद (रज़ि॰) भी थे। वे जोशीले और बहादुर तो बचपन से ही थे। तीर का निशाना भी ख़ूब लगाते थे, बड़े जोश से लड़े। जान पर खेलकर प्यारे रसूल (सल्ल॰) की हिफ़ाज़त की। झुण्ड-के-झुण्ड इस्लाम-दुश्मन जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) पर हमला करते तो हज़रत साद (रज़ि॰) तीर-पर-तीर चलाते। कोई तीर ख़ाली न जाता, एक-न-एक इस्लाम-दुश्मन ज़रूर मारा जाता। जब उनके

पास तीर ख़त्म हो गए तो प्यारे रसूल (सल्ल॰) अपने पास से तीर देते और फ़रमाते– "शाबाश साद! तीर चलाते रहो।"

हज़रत साद (रज़ि॰) तीर चलाते रहे, दुश्मनों को भगाते रहे। मगर वे तो बहुत ज़्यादा थे, इधर तीर भी ख़त्म हो गए। अब क्या हो.........? प्यारे रसूल (सल्ल॰) का हुक्म था कि तीर चलाते रहो, साद (रज़ि॰) ने इधर-उधर देखा। एक बिना नोंक का तीर पड़ा था, उसको उठाकर कमान में जोड़ा और दुश्मन की तरफ मोड़ा। एक दुश्मन बड़ी फुर्ती से लड़ता हुआ आ रहा था, उस पर झन्नाटे से तीर छोड़ा। तीर उसके माथे पर पड़ा और वह उलट गया। ऐसी चोट लगी कि बौखला गया और भागा तो उसका तहबन्द (लुँगी) खुल गया। अरे भई! वह तो ऐसा डरा कि तहबन्द भी न सम्भाल सका, नंगा ही भागा। उसकी भगदड़ और साद (रज़ि॰) की यह निशानेबाज़ी देखकर प्यारे रसूल (सल्ल॰) हँस पड़े।

इसी तरह एक और ज़बरदस्त दुश्मन को ऐसा तीर मारा कि उसके हलक़ पर पड़ा, कुत्ते की तरह ज़बान बाहर निकल आई और वहीं तड़प-तड़पकर मर गया। हज़रत साद (रज़ि॰) इसी तरह बड़ी बहादुरी के साथ आख़िर तक लड़े।

इसी तरह हज़रत साद (रज़ि॰) तमाम लड़ाइयों में प्यारे रसूल (सल्ल॰) के साथ रहे और हर लड़ाई में इतनी बहादुरी से लड़े कि प्यारे रसूल (सल्ल॰) खुश हो गए। जिससे प्यारे रसूल (सल्ल॰) ख़ुश हो जाएँ उससे अल्लाह भी ख़ुश हो जाता है। फिर जिससे अल्लाह ख़ुश हो जाए उसका कहना ही क्या! अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की ख़ुशी ही तो मुसलमान के लिए सब कुछ है।

प्यारे रसूल (सल्ल॰) हज़रत साद (रज़ि॰) से बहुत ख़ुश थे। एक बार हज़रत साद (रज़ि॰) बीमार पड़े। बचने की कोई उम्मीद न थी तो प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने उनके अच्छे होने की दुआ की।

फिर फ़रमाया, "ऐ साद! तुम उस वक़्त तक न मरोगे, जब तक एक क़ौम (इस्लाम-दुश्मनों) को नुक़सान और एक क़ौम (मुसलमानों) को नफ़ा (फ़ायदा) न पहुँच जाए।"

भला प्यारे रसूल (सल्ल॰) की बात ग़लत हो सकती है? अब सुनिए यह बात किस तरह सही निकली—

प्यारे रसूल (सल्ल॰) के बाद हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) ख़लीफ़ा हुए और उनके बाद हज़रत उमर (रजि॰) की ख़िलाफ़त के ज़माने में बड़ी ज़बरदस्त लड़ाइयाँ हुईं। जिनमें ईरान की लड़ाइयाँ बहुत मशहूर हैं। उस वक़्त ईरान की हुकूमत बहुत ज़बरदस्त थी। ईरानियों को अपनी हुकूमत और ताक़त पर बहुत घमण्ड था। वे घमण्ड के मारे किसी को कुछ समझते ही न थे। बढ़कर अरबों पर चढ़ दौड़ते और मुसलमानों को बहुत नुक़सान पहुँचाते। हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि॰) ख़लीफ़ा हुए तो उन्होंने ईरानियों को सज़ा देने की ठान ली। बहुत बड़ी हुकूमत से मुक़ाबला था, इसलिए बहुत बड़ा लश्कर इकट्ठा किया। मगर सोच में पड़े थे कि इतनी बड़ी हुकूमत से टक्कर लेनी है, इतनी बड़ी फ़ौज को सम्भालना है, अब इसका अफ़सर किसे बनाएँ? कोई आदमी समझ में न आया तो अपने साथियों से सलाह-मशवरा किया। मशवरे से काम करना तो बहुत अच्छा होता है। अल्लाह ने क़ुरआन में हुक्म दिया है कि आपस में मशवरा कर लिया करो। प्यारे रसूल (सल्ल॰) भी मशवरा करते थे, तो फिर हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि॰) मशवरा क्यों न करते? उन्होंने एक जगह सबको जमा किया और सारा हाल कहा। सब देर तक सोचते रहे। अल्लाह भी अपने बन्दों की मदद ख़ूब करता है। हज़रत अब्दुर्रहमान-बिन-औफ़ (रज़ि॰) के दिल में बात डाल दी, वे बोले, "मैंने पा लिया।" हज़रत उमर (रज़ि॰) ने पूछा, "कौन?" वे बोले, "साद-बिन-अबी-वक़्क़ास।"

तमाम मुसलमान साद (रज़ि॰) का नाम सुनकर ख़ुश हो गए। चारों तरफ़ से 'ठीक! ठीक!' की आवाज़ें आने लगीं।

हज़रत उमर (रज़ि॰) ने हज़रत साद (रज़ि॰) को सिपहसालार (फौज का अफ़सर) बना दिया, उनको बहुत-सी नसीहतें कीं और अल्लाह का नाम लेकर ईरान की तरफ रवाना कर दिया। जब यह ख़बर ईरानियों को हुई तो उन्होंने मुसलमानों की फ़ौज से भी बड़ी फ़ौज तैयार की। बहुत ज़्यादा सामान इकट्ठा किया। बड़े-बड़े बहादुरों को लड़ाई में शामिल किया। अब उधर से वे चढ़े, इधर से ये बढ़े। क़दम-क़दम पर सख़्त लड़ाई हुई, दोनों तरफ का हर सिपाही ख़ूब लड़ा। हज़रत साद (रज़ि॰) की फ़ौज ईरानियों से बहुत कम थी। लेकिन मुसलमानों को इसका ग़म न था।

हज़रत साद (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) की ज़िन्दगी में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। वे तो दिल में ठान चुके थे कि जान जाए या रहे, अल्लाह की ख़ुशी हासिल करनी है और इस्लाम का नाम ऊँचा करना है। फिर भला ऐसे मुसलमान के सामने कम-ज़्यादा का क्या सवाल? उसे तो बस अल्लाह की मेहरबानी चाहिए। हज़रत साद (रज़ि॰) को पूरा भरोसा था। अल्लाह ने भी अपने बन्दों की मदद की। हज़रत साद (रज़ि॰) ने बड़ी महारत से फ़ौज को लड़ाया, शहर पर शहर और क़िले पर क़िले जीतते चले गए।

हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि॰) ने जब मुसलमानों की जीत की ख़बर सुनी तो अल्लाह का शुक्र अदा किया और जब ईरान के बादशाह ने अपनी फ़ौज की हार की ख़बर सुनी तो वह बहुत घबराया। अब उसने सारे मुल्क की फ़ौजों को इकट्ठा किया और मुसलमानों से लड़ने के लिए भेजा। उस फ़ौज में हज़ारों हाथी थे जिनपर लोहे की झूलें पड़ी हुई थीं और उनकी सूँड में लोहे की

मोटी-मोटी लाटें थीं। ईरान का सबसे मशहूर बहादुर रुस्तम उस फ़ौज का सिपहसालार था। उसने हाथियों की क़तार आगे जमाई। ये काले-काले पहाड़-के-पहाड़ हाथी, लोहे से ढके हुए और लोहे की मोटी-मोटी लाटें सूँड में थामे, झूमते हुए आगे बढ़े तो अरबों के घोड़े बिदक गए, किसी तरह क़ाबू में ही न आ रहे थे। मुसलमान लाख सम्भालते मगर खलबली मच गई। हज़रत साद (रज़ि॰) सोच में पड़ गए, एक मुश्किल यह भी थी कि उनके पैर में बहुत दर्द था, वे दर्द के मारे उठ-बैठ न सकते थे। मगर वे घबराए नहीं। जगह-जगह अपने अफ़सरों को तैनात किया था। एक ऊँची जगह ख़ुद बैठ गए और वहीं से फ़ौज को लड़ाने लगे।

हाथियों की काली आँधी और अपने घोड़ों का बिदकना और अपनी फ़ौज की खलबली देखी तो कुछ बहादुरों को हुक्म दिया कि "घोड़ों से कूद पड़ो और हाथियों की आँखों को निशाना बनाओ।"

उस वक़्त मुसलमान भी अपने अफ़सर का हुक्म दिल से मानते थे। हुक्म मिलते ही वे घोड़ों से कूद पड़े, जान पर खेल गए। हाथियों की आँखों को ताक-ताककर तीर मारे। बढ़-बढ़कर भालों-बरछों से वार किए। जब मुसलमान इस तरह अल्लाह के लिए जान पर खेल जाता है तो अल्लाह ज़रूर अपने बन्दे की मदद करता है।

अब हुआ यह कि बहादुर मुसलमानों ने बहुत से हाथियों को अन्धा कर दिया। हाथियों की आँखें फूटीं तो वे जोर से चिंघाड़े और ज़ख़्म खाकर जो पीछे मुड़े तो फिर भला वे किससे रुकते। छोटे-छोटे हाथियों ने आगे के बड़े हाथियों को वापस होते देखा तो वे भी पलट पड़े और भागनेवालों के पीछे-पीछे हो लिए। अब तो मुसलमान उछलकर फिर घोड़ों पर सवार हो लिए और मिलकर

हमला किया तो ईरानियों के पाँव उखड़ गए, वे भाग खड़े हुए। रुस्तम देर तक डटा रहा, लेकिन कब तक? फ़ौज को भागते देखा तो वह भी भाग खड़ा हुआ। हिलाल नामी एक मुसलमान ने उसे भागते देखा तो पीछा किया। रुस्तम घोड़े समेत नदी में कूद पड़ा। हिलाल ने उसे वहाँ भी नहीं छोड़ा, पकड़कर क़त्ल कर दिया।

इस लड़ाई के बाद ईरानियों के छक्के छूट गए। हज़रत साद (रज़ि॰) ने कुछ ही दिनों में सारा ईरान जीत लिया। ईरान का बादशाह चीन भाग गया। हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि॰) मुसलमानों की इस जीत से बहुत ख़ुश हुए। हज़रत साद (रज़ि॰) को उस इलाक़े का गवर्नर जनरल बना दिया।

हज़रत साद (रज़ि॰) ने मुल्क का इंतिज़ाम भी बड़ी होशियारी और समझदारी से किया। जगह-जगह शहर बसाए, छावनियाँ बनाईं और इस्लाम के तरीक़े से मुल्क का इंतिज़ाम किया। अब ईरानियों को पता चला कि इस्लाम तो अल्लाह की बड़ी नेमत है। ग़ैर-मुस्लिमों को इतना आराम मिला कि इससे पहले कभी इतना आराम नसीब नहीं हुआ था। अब वे समझ गए कि इस्लाम की बातों को बुरा समझना बेवकूफ़ी है, फिर उन पर इस्लाम का इतना असर हुआ कि सब मुसलमान हो गए।

हज़रत साद (रज़ि॰) इतने बहादुर, जोशीले और अक़्लमन्द आदमी थे, मगर उनमें घमण्ड बिलकुल भी नहीं था। वे प्यारे रसूल (सल्ल॰) की एक-एक बात को नक़ल करने की पूरी कोशिश करते थे। अल्लाह की ख़ुशी के लिए बहुत मुसीबतें भी झेलीं, दुख भी सहे। शुरू-शुरू में जब मुसलमान हुए तो भूख की तकलीफ़ें भी उठाईं। यह हालत भी हो गई थी कि पेड़ के पत्ते खा-खाकर प्यारे रसूल (सल्ल॰) के साथ जंग में शामिल होते और बहुत बहादुरी से लड़ते थे। उनके मुसलमान होने से माँ नाराज़ हो गईं मगर वही किया जिसमें अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की मरज़ी

थी। फिर जब अल्लाह के फ़ज़्ल से ईरान के गवर्नर हुए तब भी अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की मरज़ी के मुताबिक़ सारे काम किए। आराम पाकर इनसान दीन की बातों से लापरवाह हो जाता है। मगर साद (रज़ि॰) ऐसे नहीं थे। वे हर हाल में अल्लाह का शुक्र अदा करते थे। सादा खाते और पहनते थे। आख़िरत की पकड़ से डरते रहते थे। रात के पिछले पहर हमेशा इबादत करते। उनका दिल बहुत नर्म था। ज़बान से बुरी बात नहीं निकालते थे। इसी लिए उनकी दुआओं में बहुत असर था। सबको पता था कि उनकी दुआ बहुत जल्दी क़बूल होती है। एक बार एक साहब से किसी बात को लेकर बहस हो गई तो साद (रज़ि॰) ने परेशान होकर दुआ के लिए हाथ उठा दिए, अभी कुछ बोले न थे कि वे साहब दौड़कर पास आए और बोले, "रुको, रुको साद! बद्दुआ मत करना।" हज़रत साद (रज़ि॰) रुक गए।

कितने अच्छे थे हज़रत साद (रज़ि॰)! ऐ अल्लाह! हम सबको भी प्यारे रसूल (सल्ल॰) के प्यारे साथियों जैसे काम करने की हिम्मत दे। आमीन!

4. हज़रत तलहा (रज़ि॰)

हज़रत तलहा (रज़ि॰) के वालिद का नाम उबैदुल्लाह था। घर के सभी लोग तिजारत करते थे। मक्का से दूसरे मुल्कों में माल ले जाते और बाहर का माल मक्का में लाते, इसी तरह लाखों की तिजारत करते थे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) से ख़ानदानी रिश्ता भी था। लेकिन सब जानते हैं कि इस्लाम में ख़ानदान और माल की वजह से कोई बुज़ुर्ग और शरीफ़ नहीं होता। अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के नज़दीक सबसे शरीफ़ आदमी वह है जो सबसे ज़्यादा अल्लाह से डरनेवाला हो। अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने जिस काम के करने का हुक्म दिया है, वही काम करता हो और जिस काम से मना किया है, उससे बचता हो। हज़रत तलहा (रज़ि॰) में सबसे बड़ी बात यही थी कि उन्होंने मुसलमान होने के बाद दीन को फैलाने में न अपनी जान की परवाह की न माल की। उनके मुसलमान होने में भी अल्लाह ने अजीब तरीक़े से मदद की।

सत्तरह-अट्ठारह बरस की उम्र थी कि अपना तिजारती माल लेकर बसरा गए। वहाँ एक पादरी से मुलाक़ात हुई। वह पादरी अल्लाह की भेजी हुई किताबें (तौरात, ज़बूर और इंजील) अच्छी तरह पढ़ चुका था और उन्हें समझता भी खूब था। उसने बताया कि अल्लाह की किताबें पढ़ने के बाद मैं यक़ीन के साथ कहता हूँ कि मक्का में मुहम्मद (सल्ल॰) जो दीन फैला रहे हैं, वह सच्चा दीन है।

हज़रत तलहा (रज़ि॰) ने मक्का से दूर बसरा में एक पादरी से

यह बात सुनी तो ज़्यादा ध्यान नहीं दिया। अपना माल बेचने की फ़िक्र में लगे रहे। मक्का वापस आए तो अपने दोस्त अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) से मिले, सफ़र का हाल सुनाया और पादरी की बात का भी ज़िक्र किया। अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) मुसलमान हो ही चुके थे और दीन की बातें दूसरों तक पहुँचाने में रात-दिन लगे रहते थे। अपने दोस्त तलहा से यह सुना तो समझाया, "जिस अल्लाह ने ज़मीन और आसमान बनाया, हमको, तुमको और सारे इनसानों को पैदा किया, फिर हमारी ज़िन्दगी के लिए तरह-तरह की चीज़ें बनाईं। हवा, पानी, अनाज, सब्ज़ी, फल-फूल, चिड़ियाँ, जानवर और न जाने क्या-क्या चीज़ें बिना माँगे दीं तो हम सबको चाहिए कि उस अल्लाह का हक़ पहचानें, उसको अपना रब जानें और उसका एहसान मानें। किसी और के कहने पर न चलें। अच्छी बातों को फैलाएँ, बुराइयों को मिटाएँ और सबको अल्लाह के कहने पर चलाएँ। ऐ तलहा! मुहम्मद (सल्ल॰) यही सब अच्छी बातें बताते हैं और उसपर अमल करने को भी कहते हैं। मुहम्मद (सल्ल॰) सचमुच अल्लाह के रसूल हैं।"

हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) ने इस तरह समझाया तो तलहा (रज़ि॰) की समझ में आ गया। वे हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) के साथ नबी (सल्ल॰) के पास गए, और इक़रार कर लिया—*ला-इला-ह इल-लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह* (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं और मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं।)

हज़रत तलहा (रज़ि॰) के मुसलमान होने की ख़बर उनके बड़े भाई ने सुनी और यह भी सुना कि अबू-बक्र (रज़ि॰) के समझाने से तलहा (रज़ि॰) ने बाप-दादा का दीन छोड़ दिया है। बस फिर क्या था उनका भाई गुस्से से काँपने लगा। तलहा (रज़ि॰) और अबू-बक्र (रज़ि॰) दोनों को पकड़कर रस्सी से बाँध दिया और पीटने लगा। वह चाहता था कि डरकर तलहा (रज़ि॰) इस्लाम छोड़

दें, मगर उन्होंने साफ़ कह दिया, "मुहम्मद (सल्ल॰) जो कुछ कहते हैं, वह सब सच है। उनको छोड़कर मैं दोबारा कुफ़्र करनेवाला बनकर अपनी आख़िरत नहीं ख़राब करूँगा, चाहे मुझे कोई मार ही क्यों न डाले।"

हज़रत तलहा (रज़ि॰) तकलीफ़ें सहते रहे, मगर दीन पर जमे रहे। फिर जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने मक्का से मदीना हिजरत की तो हज़रत तलहा (रज़ि॰) भी मक्का से मदीना चले गए। लेकिन मक्का के इस्लाम-दुश्मनों को चैन कहाँ था? उन्होंने सुना कि मुसलमान मदीना पहुँचकर बढ़ते और ताक़तवर होते जा रहे हैं। उन्होंने लड़ाई करने की ठान ली। प्यारे रसूल (सल्ल॰) और तमाम मुसलमानों ने भी अल्लाह का नाम लेकर मुक़ाबला किया। हर लड़ाई में मक्कावालों की हार हुई।

उहुद की लड़ाई में हज़रत तलहा (रज़ि॰) जमकर लड़े, यह देखकर अपने-पराए सब दंग रह गए। बात यह हुई कि उस लड़ाई में मुसलमान कम थे और दुश्मन ज़्यादा। इस पर भी दुश्मनों ने धोखे से काम लिया। लड़ाई हो ही रही थी कि सैकड़ों इस्लाम-दुश्मनों ने पीछे से हमला कर दिया, मुसलमान उस तरफ़ से बेख़बर थे। जब अचानक पीछे से तलवारें बरसने लगीं तो घबरा गए। मुसलमान आगे-पीछे दोनों तरफ़ से घिरे थे, जो जहाँ फँस गया वहीं लड़ने लगा।

प्यारे रसूल (सल्ल॰) को भी इस्लाम-दुश्मनों ने घेर लिया और क़त्ल करना चाहा (तौबा! तौबा!)। चारों तरफ़ से तीर, तलवार और भालों के वार करने लगे। उस वक़्त जैसे जलते हुए चिराग़ के आस-पास पतंगे चक्कर लगाते हैं, उसी तरह अकेले हज़रत तलहा (रज़ि॰) प्यारे रसूल के चारों तरफ़ फिर रहे थे। आगे से, पीछे से, दाँए से, बाँए से, हर तरफ से प्यारे रसूल (सल्ल॰) की हिफ़ाज़त कर रहे थे। तीरों की बौछार को हथेली पर रोकते।

इस्लाम-दुश्मन मुहम्मद (सल्ल॰) पर तलवार चलाते तो तलहा (रज़ि॰) बीच में आकर बचाते, भालों को सीने पर रोकते और जब इस्लाम-दुश्मनों की भीड़ ज़्यादा हो जाती तो शेर की तरह झपटकर हमला करते और इस्लाम-दुश्मनों को दूर तक भगा देते।

एक बार ऐसा हुआ कि एक दुश्मन ने प्यारे रसूल (सल्ल॰) पर तलवार चलाई। यह तलवार प्यारे रसूल के प्यारे साथी तलहा (रज़ि॰) ने अपनी उँगलियों पर रोकी। उँगलियाँ कट गईं तो ज़बान से निकला, "ख़ूब! ख़ूब!" (यानी बहुत अच्छा हुआ कि प्यारे रसूल (सल्ल॰) की हिफ़ाज़त में उँगलियाँ काम आईं)। हज़रत तलहा (रज़ि॰) की ज़बान से 'ख़ूब! ख़ूब!' सुना तो मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "अगर तुम उस वक़्त 'बिसमिल्लाह' कहते तो फ़रिश्ते तुमको उठा ले जाते।"

सैकड़ों दुश्मनों के इस हमले में अकेले तलहा (रज़ि॰) देर तक प्यारे रसूल (सल्ल॰) की हिफ़ाज़त करते रहे और पैंतरे बदल-बदलकर अपनी बहादुरी के जौहर दिखाते रहे। ज़ख़्मी हुए, तीर लगे, तलवारें खाईं, नेज़े (भाले) सहे मगर प्यारे रसूल (सल्ल॰) की हिफ़ाज़त से मुँह न मोड़ा और न किसी दुश्मन को पास आने दिया। फिर जब दूसरे मुसलमान मदद के लिए आए तो दुश्मन भागे। लड़ाई ख़त्म होने के बाद लोगों ने तलहा (रज़ि॰) के जिस्म पर ज़ख़्म गिने तो सत्तर से ज़्यादा थे।

आख़िर में एक दुश्मन के तीर से तलहा (रज़ि॰) की शहादत हुई।

यह तो था दीन के लिए जान लड़ाने का हाल। दीन के लिए माल निछावर करने की हालत यह थी कि जब ज़रूरत हुई तो हज़रत तलहा (रज़ि॰) ने ख़ुशी-ख़ुशी हज़ारों-लाखों लाकर प्यारे रसूल (सल्ल॰) के क़दमों में डाल दिए। सदक़ा, ख़ैरात वग़ैरा अलग से देते। ग़रीबों, यतीमों और मुसाफ़िरों की ख़िदमत के लिए हर

वक़्त तैयार रहते। कोई माँगता तो भी देते और बिना माँगे भी देते। लड़कियों और बेवा औरतों की शादियाँ करा देते थे और जो लोग क़र्ज़दार होते, उनका क़र्ज़ अपने पास से अदा कर देते थे। कभी-कभी पूरी लड़ाई का ख़र्च अपने पास से दिया और तमाम मुसलमानों की दावत भी की। एक बार सात लाख की रक़म अल्लाह की राह में दे दी।

एक बार तीन आदमी मुसलमान हुए। वे अपने घरों से निकाल दिए गए। प्यारे रसूल (सल्ल०) ने मुसलमानों से फ़रमाया, "कौन इन तीनों का ख़र्च बरदाश्त कर सकता है?" हज़रत तलहा (रज़ि०) ने तुरन्त कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं।" उसके बाद तीनों को घर ले गए और उम्र-भर उन्हें आराम से रखा।

एक बार बड़े मज़े की बात हुई। घर में तलहा (रज़ि०) उदास बैठे थे, बीवी ने देखा तो बोलीं, "आप उदास क्यों बैठे हैं? क्या मुझसे कोई ग़लती हो गई है?"

उन्होंने जवाब दिया, "नहीं, तुम बहुत अच्छी बीवी हो, अस्ल बात यह है कि मेरे पास चार लाख की रक़म जमा हो गई है। सोचता हूँ, क्या करूँ?"

बीवी भी तो तलहा (रज़ि०) की थीं, बोलीं, "बाँट दीजिए।"

यह सुनकर तलहा (रज़ि०) ख़ुश हो गए और सारी रक़म ग़रीबों में बाँट दी।

सब जानते हैं कि एक मुसलमान के लिए सबसे बड़ी बात यह है कि नबी (सल्ल०) की एक-एक बात को माने। हज़रत तलहा (रज़ि०) ज़िन्दगी-भर वही करते रहे जो नबी (सल्ल०) को करते देखा और जिस काम से अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने मना किया उसे कभी किया ही नहीं। अल्लाह और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की बात हमेशा याद रखते, भूल जाते

तो रंज (दुख) होता। इस बारे में भी एक बार बड़े मज़े की बात हुई।

एक दिन तलहा (रज़ि॰) उदास बैठे थे। हज़रत उमर (रज़ि॰) आ निकले। उनको दुखी देखा तो पूछा, "क्यों उदास बैठे हो? किसी से झगड़ा तो नहीं हुआ?"

जवाब दिया, "नहीं, झगड़ा तो किसी से नहीं हुआ है। मैंने प्यारे रसूल (सल्ल॰) को फ़रमाते सुना था कि अगर कोई बन्दा मरते वक़्त एक 'बात' ज़बान से कह दे तो उसे कोई तकलीफ़ नहीं होगी और उसका चेहरा चमकने लगेगा। मुझे वह 'बात' याद थी मगर इस वक़्त भूल गया हूँ।"

हज़रत उमर (रज़ि॰) ने कहा, "इस बात से बढ़कर और क्या हो सकती है जिसका प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने हुक्म दिया 'ला-इला-ह इल्लल्लाह' (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं)।"

हज़रत तलहा (रज़ि॰) ने हज़रत उमर (रज़ि॰) की ज़बान से यह सुना तो ख़ुशी से उछल पड़े और बोले, "अल्लाह की क़सम! यही वह 'बात' थी।"

जिस बन्दे से अल्लाह और उसका रसूल राज़ी हो गया हो, उसकी ख़ूबियाँ कौन बयान कर सकता है? हज़रत तलहा (रज़ि॰) बहादुर थे, मालदार थे मगर उन्होंने हमेशा सादा ज़िन्दगी गुज़ारी। एक अच्छे मुसलमान में जो ख़ूबियाँ होनी चाहिएँ, वे सब उनमें थीं। यही वजह थी कि नबी (सल्ल॰) ने उन्हें ज़िन्दगी में ही जन्नती होने की ख़ुशख़बरी दे दी थी। एक मुसलमान के लिए इससे बड़ी दौलत और क्या हो सकती है?

अल्लाह सबको ऐसे ही काम करने की हिम्मत दे, जिनसे आख़िरत की ज़िन्दगी कामयाब हो। आमीन!

5. हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰)

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) की फूफी हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) के बेटे थे। इस रिश्ते से हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) के फूफीज़ाद भाई थे। इस रिश्ते के अलावा प्यारे रसूल (सल्ल॰) से और भी कई रिश्ते थे। वे प्यारे रसूल (सल्ल॰) की पहली बीवी हज़रत ख़दीजा (रज़ि॰) के सगे भतीजे थे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) की दूसरी बीवी हज़रत आइशा (रज़ि॰) की बड़ी बहन हज़रत असमा (रज़ि॰) की शादी हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) से हुई थी। इन सब रिश्तों के साथ-साथ प्यारे रसूल (सल्ल॰) और हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) एक ही ख़ानदान से थे। लेकिन इस्लाम में ख़ानदान और रिश्तों से किसी का मर्तबा (पद) बड़ा नहीं होता। सब लोग जानते हैं कि अबू-लहब प्यारे रसूल (सल्ल॰) का सगा चाचा था, मगर वह प्यारे रसूल (सल्ल॰) का दुश्मन होने की वजह से ज़लील (बेइज़्ज़त) और जहन्नमी हो गया। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) का मर्तबा इस्लाम में इसलिए बड़ा हुआ कि वे प्यारे रसूल (सल्ल॰) के प्यारे साथी थे।

उनके बचपन का हाल बहुत दिलचस्प है। वालिद (बाप) मर चुके थे। उनकी माँ हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) ने उनको पाला। वे उनसे बचपन से ही बहुत मुश्किल काम लेती थीं। एक बच्चे को मुश्किल काम करते देखकर लोग हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) से शिकायत करते, "अरे! क्या बच्चे की जान लोगी?"

हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) जवाब देतीं, "मैं इसे अक़्लमन्द, बहादुर और निडर बना रही हूँ।"

हुआ भी ऐसा ही। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) बचपन में ही बड़े निडर और बहादुर हो गए। एक बार मक्का के एक बड़े पहलवान से कुश्ती हुई। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) नें उसे ऐसा हाथ मारा कि वह धड़ाम से ज़मीन पर गिरा और उसका एक हाथ टूट गया। लोग उसे लादकर हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) के पास ले गए और शिकायत की, तो उन्होंने जवाब दिया, "सच कहो, तुमने मेरे बेटे को कैसा पाया? बहादुर या कायर?"

सोलह बरस की उम्र में मुसलमान हो गए थे। उन्हीं दिनों, एक दिन सुना कि इस्लाम-दुश्मनों ने प्यारे रसूल (सल्ल॰) को क़ैद कर लिया है। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) को बहुत दुख हुआ, ग़ुस्से से तलवार खींच ली। प्यारे रसूल (सल्ल॰) की तलाश में उनके घर गए तो वे वहाँ मिल गए। प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने नंगी तलवार लिए देखा तो पूछा, "ज़ुबैर! यह ग़ुस्सा कैसा?"

ज़ुबैर (रज़ि॰) बोले, "मैंने सुना था कि आपको इस्लाम-दुश्मनों ने क़ैद कर लिया है, मैं आपको छुड़ाने निकला था।"

इस छोटी सी उम्र में यह बहादुरी और मुहब्बत देखकर प्यारे रसूल (सल्ल॰) बहुत ख़ुश हुए। किताबों में लिखा है कि प्यारे रसूल (सल्ल॰) की तरफ़दारी में सबसे पहले इसी बच्चे ने तलवार निकाली थी।

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) के मुसलमान होने की ख़बर उनके चाचा ने भी सुनी, चाचा ने कहा, "इस्लाम छोड़ दो नहीं तो तुमको मारूँगा और खाना-पीना बन्द कर दूँगा।"

हज़रत ज़ुबैर ने चाचा की बात न मानी। मानते कैसे? क्या इस्लाम छोड़ने की चीज़ थी? अब चाचा बहुत गुस्सा हुए, मारा-पीटा और बाँधकर खजूर की चटाई में लपेट दिया, फिर आग जलाकर इतना धुआँ पहुँचाया कि उनका दम घुटने लगा। मगर वे

यही कहते रहे, "चचा जान! कुछ भी कर लो, अब मैं बुतों का पुजारी नहीं बन सकता।"

बड़े हुए तो बद्र के मक़ाम (जगह) पर मुसलमानों और इस्लाम-दुश्मनों में सबसे पहली जंग हुई। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) तो बचपन से बहादुर और पक्के मुसलमान थे ही, बड़ी बहादुरी से लड़े। जिस तरफ़ बढ़ते, इस्लाम-दुश्मन डरकर भागते। इसी जंग में एक इस्लाम-दुश्मन पहलवान ने एक टीले पर चढ़कर पुकारा, "कौन मुसलमान मेरा मुक़ाबला कर सकता है?"

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) यह सुनते ही जाकर उससे भिड़ गए, अब दोनों लुढ़कते हुए नीचे आ रहे थे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) देख रहे थे, फ़रमाया, "इन दोनों में जो ज़मीन पर पहले गिरेगा, वह क़त्ल होगा।"

भला प्यारे रसूल (सल्ल॰) की बात ग़लत कैसे होती! पहलवान ज़मीन पर पहले गिरा और हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) ने उसे क़त्ल कर दिया। इसके बाद एक और पहलवान सामने आया। वह सिर से पाँव तक लोहे की ज़िरह (सुरक्षा-कवच) पहने था। सिर्फ़ आँखें दिखाई दे रहीं थीं। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) ने ताककर ऐसा नेज़ा (भाला) मारा कि पार हो गया, फिर जब खींचा तो नोंक टेढ़ी हो गई।

इसी तरह ख़ैबर की लड़ाई में एक लम्बे-तगड़े और मोटे-ताज़े दुश्मन पहलवान से उनका सामना हुआ। उसने बढ़कर ऐसा हमला किया कि हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) की माँ हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) घबरा गईं। प्यारे रसूल (सल्ल॰) से बोलीं, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरा बेटा आज मारा जाएगा।"

प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "नहीं, ज़ुबैर उसे मार देगा।"

भला अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की बात कैसे ग़लत होती! हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) ने उस पहलवान को भी मार गिराया।

इसी तरह हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) और इस्लाम की मुहब्बत में बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में शरीक हुए। अपनी जान की परवाह नहीं की। मुल्क शाम (सीरिया) में यरमूक के मक़ाम (जगह) पर जो लड़ाई इस्लाम-दुश्मनों से हुई उसमें तो कमाल ही कर दिया। दुश्मन ज़्यादा थे और मुसलमान कम थे। फिर भी ख़ूब लड़े। कुछ बहादुरों ने हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) से कहा, "आप जिधर हमला करके घुसेंगे, हम आपका साथ देंगे।"

उन्होंने जवाब दिया, "तुम लोग मेरा साथ नहीं दे सकते।"

यह कहकर दुश्मनों की भीड़ में घुसे और लड़ते हुए इधर से उधर निकल गए। फिर जब लौटे तो दुश्मनों ने घोड़े की लगाम थाम ली और ज़ुबैर (रज़ि॰) को घेर लिया। हज़ारों ने मिलकर एक को ज़ख़्मी तो कर दिया मगर पकड़ न सके। अकेले ही उन्होंने बहुत से दुश्मनों को मार गिराया और वापस आ गए।

इसी तरह एक बार मिस्र के क़िले में अकेले घुस गए और जाकर अन्दर से दरवाज़ा खोल दिया। सब लोग उनकी यह बहादुरी देखकर दंग रह गए।

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) हर वक़्त इस्लाम पर अपनी जान निछावर करने को तैयार रहते थे। अल्लाह का दीन फैलाने पर तुले रहते थे। न अपनी जान की परवाह करते न माल की। इसके साथ-साथ ज़िन्दगी-भर वही काम किया जिसका हुक्म अल्लाह और अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने दिया था। यही वजह थी कि प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने उनको ज़िन्दगी ही में जन्नती होने की ख़ुशख़बरी दे दी थी। आख़िर में उनको शहादत का दर्जा मिला। एक शख़्स ने नमाज़ पढ़ते वक़्त आप (रज़ि॰) को शहीद कर दिया। हज़रत अली (रज़ि॰) ने सुना तो बोले, "ज़ुबैर (रज़ि॰) को क़त्ल करनेवाला जहन्नमी है।"

6. हज़रत तुलैब (रज़ि॰)

हज़रत तुलैब (रज़ि॰) प्यारे रसूल (सल्ल॰) की फूफी अरवा (रज़ि॰) के बेटे थे। इन दोनों ने मरते दम तक प्यारे रसूल (सल्ल॰) का साथ दिया और इस्लाम की बड़ी ख़िदमत की।

जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने मक्का में दीन फैलाना शुरू किया तो हज़रत तुलैब (रज़ि॰) थोड़े ही दिनों बाद मुसलमान हो गए। मुसलमान होते ही फ़ौरन माँ के पास गए और कहा, "अम्मी जान! मैं मुसलमान हो गया हूँ।"

वे भी समझदार थीं। प्यारे रसूल (सल्ल॰) की फूफी तो थीं ही, प्यारे रसूल (सल्ल॰) से बहुत मुहब्बत भी करती थीं। बेटे का मुसलमान होना सुना तो बहुत ख़ुश हुईं और बोलीं, "बेटा! बहुत अच्छा किया। मुहम्मद (सल्ल॰) तुम्हारे मामू के बेटे हैं। तुम्हारा उनसे दोहरा रिश्ता हो गया। एक ख़ानदान का, दूसरा दीन का। अब तुमको चाहिए कि उनकी मदद करो। बेटा! मैं औरत-ज़ात हूँ, कमज़ोर। अगर मर्दों जितनी ताक़त होती तो जो लोग मेरे भतीजे मुहम्मद (सल्ल॰) को सता रहे हैं, उनको मज़ा चखा देती।" तुलैब (रज़ि॰) ने कहा, "अम्मी जान! तो फिर आप भी मुसलमान हो जाएँ। देखिए! आपके भाई हमज़ा मुसलमान हो गए।"

माँ : "मैं अपनी बहनों के मुसलमान होने का रास्ता देख रही हूँ।

तुलैब (रज़ि॰) : "आप अपनी बहनों का रास्ता क्यों देख रही हैं?"

माँ : "सोचती हूँ कि देखूँ वे सब क्या करती हैं?"

तुलैब (रज़ि॰) : "मान लीजिए अगर वे मुसलमान न हुईं तो?"

माँ : "मुसलमान कैसे न होंगी? मुहम्मद (सल्ल॰) की फूफी जो हैं।"

तुलैब (रज़ि॰) : "फूफी होने से क्या होता है? आप देखती हैं कि

मामू जान (अबू-लहब) प्यारे रसूल (सल्ल॰) के सगे चाचा हैं, मगर कुछ नहीं समझते, उलटा उनको और उनके साथियों को सताने पर तुले हुए हैं।"

माँ : "लेकिन मैं तो दिल में ठान चुकी हूँ कि मुसलमान हो जाऊँगी। देर बस इतनी है कि दूसरी बहनें मुसलमान हो जाएँ तो मैं भी मुसलमान हो जाऊँ।"

तुलैब (रज़ि॰) : "अम्मी जान! मौत का कोई ठिकाना नहीं कि कब आ जाए, इसलिए आप नेक काम में देर न कीजिए। आप मेरे साथ प्यारे रसूल (सल्ल॰) के पास चलिए। मेरी प्यारी अम्मी जान! अल्लाह के वास्ते अभी चलिए।"

माँ: "अच्छा यह बात है तो लो मैं यहीं इक़रार (क़बूल) करती हूँ— *'ला-इला-ह इल्लल्लाह, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह'* (अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं, मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के रसूल हैं)।"

ये दोनों मुसलमान हुए तो किसी से दबकर नहीं रहे। प्यारे रसूल (सल्ल॰) के साथ-साथ दीन की बातें फैलाने लगे। मिलनेवालों को समझाने लगे। दोनों माँ-बेटे हर वक़्त प्यारे रसूल (सल्ल॰) और मुसलमानों की मदद को तैयार रहते थे। जहाँ सुनते कि मुसलमानों को सताया जा रहा है, बस फ़ौरन वहाँ पहुँच जाते और लड़-झगड़कर जिस तरह भी बन पड़ता इस्लाम-दुश्मनों को रोकते और बेचारे मुसलमानों को बचाते।

एक बार एक बड़े ख़ानदान का आदमी औफ़-बिन-सबरा सहमी प्यारे रसूल (सल्ल॰) के ख़िलाफ़ बुरी बातें कह रहा था। हज़रत तुलैब (रज़ि॰) ने सुना तो उनको जोश आ गया, सहमी को ऊँट की हड्डी से पीटा। लोगों ने हज़रत अरवा (रज़ि॰) से शिकायत की तो उन्होंने ख़ुशी मनाई और लोगों को डाँट दिया।

एक बार मक्का के इस्लाम-दुश्मनों ने एक आदमी को प्यारे रसूल (सल्ल॰) को मार डालने के लिए भेजा (तौबा! तौबा!)। हज़रत तुलैब (रज़ि॰) को कहीं से यह बात पता चल गई। बस

उसके पास पहुँचे और उसी की तलवार से उसको क़त्ल कर दिया। हज़रत अरवा (रज़ि॰) ने यह सुना तो बेटे को बहुत शाबाशी दी।

ग़रीब मुसलमानों को तो मक्का के इस्लाम-दुश्मन सताते थे, मगर हज़रत तुलैब (रज़ि॰) का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। हज़रत तुलैब (रज़ि॰) और उनकी माँ हज़रत अरवा (रज़ि॰) दोनों प्यारे रसूल (सल्ल॰) की भी मदद करते और मुसलमानों की भी मदद करते। इस्लाम-दुश्मनों को बराबर का जवाब देते। एक बार तो तुलैब (रज़ि॰) ने अपने मामू अबू-लहब को भी पीट दिया था।

अबू-लहब था तो प्यारे रसूल (सल्ल॰) का चाचा, मगर था बहुत बुरा आदमी। सभी सतानेवालों का सरदार वही था। एक बार उसने बहुत-से मुसलमानों को क़ैद कर लिया। तुलैब (रज़ि॰) ने सुना तो फ़ौरन उसके घर पहुँचे और अबू-लहब को मारना शुरू कर दिया और मुसलमानों को छुड़ा लिया। मक्का के ग़ैर-मुस्लिमों ने यह देखा तो सबने मिलकर तुलैब (रज़ि॰) को रस्सी से बाँध दिया। अबू-लहब ने भाँजे को खोल दिया और फिर बहन से शिकायत की।

हज़रत अरवा (रज़ि॰) ने जवाब दिया, "भाई जान! मेरे बेटे तुलैब (रज़ि॰) की ज़िन्दगी का सबसे अच्छा दिन वही है जिसमें वह मुहम्मद (सल्ल॰) की मदद करे।"

बहन का यह जवाब सुनकर अबू-लहब अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

माँ-बेटे दोनों प्यारे रसूल (सल्ल॰) और मुसलमानों की मदद करते रहे, जान से भी और माल से भी। जब प्यारे रसूल (सल्ल॰) ने मुसलमानों को मदीना चले जाने का हुक्म दिया तो ये दोनों माँ-बेटे भी मदीना चले गए। हज़रत तुलैब (रज़ि॰) पैंतीस साल की उम्र में एक लड़ाई में शहीद हुए।

☆☆☆